Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 SHISRRJ | Volume 5 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

व्यक्तित्व विकास में यम–नियम की भूमिका का विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ0 मलिक राजेन्द्र प्रताप
विभागाध्यक्ष, योग विभाग, एम0 बी0 राज0 स्ना0 महा0, हल्द्वानी (नैनीताल)
सूरज सिंह
शोधार्थी, योग विभाग, निर्वाण विश्वविद्यालय, जयपुर

सारांशिका : प्रस्तुत शोधपत्र में व्यक्तित्व विकास में योग के महत्व का शास्त्रीय अध्ययन किया गया है। यम–नियम योग साधना की नींव (आधार) के रूप में कार्य करते हैं। जिस प्रकार किसी भवन की नींव जितनी सुदृढ़ होती है, वह भवन भी उतना ही मजबूत और टिकाऊ होता है, ठीक उसी प्रकार योग साधनारूपी भवन की नींव में यम और नियम का पालन करना होता है। यम–नियम का पालन करने से योग साधक की साधना शीघ्र फलीभूत होने लगती है। जिस प्रकार योग साधक को साधना के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए यम–नियम पालन की आवश्यकता होती है ठीक उसी प्रकार आधुनिक समय में जन सामान्य यम–नियम को अपनी दिनचर्या का अंग बनाकर इनके लाभों (फलों) से अपने व्यक्तित्व को परिष्कृत कर सकता है। पाँच यम और पाँच नियम मनुष्य के व्यक्तित्व को श्रेष्ठ गुणों से सम्पन्न बना सकते हैं। मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति को नई दिशा प्रदान करता है और यही आधुनिक समय में व्यक्तित्व के आयाम कहलाते हैं। आधुनिक समय में यम–नियम का पालन करता हुआ मनुष्य शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक और आत्मिक उन्नति के साथ ही महान व्यक्तित्व का धनी बन सकता है।

कूट शब्द : यम, नियम, अष्टांग योग, व्यक्तित्व।

प्रस्तावना : आधुनिक समय में विकृत आहार–विहार एवं प्रतिस्पर्द्धात्मक एवं स्वार्थ से परिपूर्ण सोच–विचार के कारण मनुष्य के अन्दर भ्रष्ट, दुराचार, पाप, इर्ष्या और राग–द्वेष आदि प्रवृत्तियां प्रबल होती जा रही हैं। इन वृत्तियों की प्रधानता के कारण आज में मनुष्य शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्तर से सम्बन्धित अनेक प्रकार की समस्याएं बहुत तेजी से बढ़ती जा रही हैं। ऋषियों और महापुरूषों की पावन भारत भूमि पर चोरी, अपहरण, भ्रष्टाचार, मारपीट आदि अमानवीय घटनाएं सामान्य होती जा रही है। आधुनिक समाज की इस रूग्ण अवस्था को देखकर प्राचीन भारतीय दर्शन का स्मरण होता है। भारतीय दर्शन साहित्य में योग का अपना विशिष्ट स्थान है। योग दर्शन के रचनाकार महर्षि पतंजलि है। महर्षि पतंजलिकृत योग दर्शन में मनुष्य के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक पक्ष को उन्नत बनाने के लिए अष्टांग योग का उपदेश किया गया है। आधुनिक समय में मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करने में अष्टांग योग एक महत्वपूर्ण कारक की भूमिका वहन कर सकता है। आधुनिक युग में मनुष्य अष्टांग योग का साधन करते हुए समग्र विकास के पथ पर अग्रसर हो सकता है। योग की उच्चतम् अवस्था अथवा ईश्वर साक्षात्कार तक पहुंचने के लिए महर्षि पतंजलि द्वारा अष्टांग योग के निम्न आठ अंगों का उपदेश किया गया है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि।।

(पातंजल योगसूत्र)

अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि– (ये) आठ योग के अंग है।[1]महर्षि पतंजलि योग दर्शन के साधन पाद में अष्टांग योग का उपदेश करते हैं। महर्षि पतंजलिकृत अष्टांग योग का शास्त्रीय महत्व इतना अधिक है कि इसे राजयोग की संज्ञा से सुशोभित किया जाता है। अष्टांग योग में वर्णित योगांगों का पालन करते हुए योग साधक समाधि की उच्चतम् अवस्था की यात्रा पूर्ण करते हैं तो वहीं आधुनिक समय में मनुष्य व्यक्तित्व विकास के क्रम में इन योगांगों को अपनी दिनचर्या का अंग बनाते हुए व्यक्तित्व को उन्नत बना सकता है। व्यक्तित्व

विकास में इन यम–नियम की भूमिका का ज्ञान प्राप्त करने के लिए शास्त्रों में वर्णित इनके स्वरूप का अध्ययन करते हैं–

(i) यम का स्वरूप एवं व्यक्तित्व विकास में महत्व

अष्टांग योग के प्रथम योगांग के रूप में वर्णित यम के पाँच भेदों पर प्रकार डालते हुए महर्षि पतंजलि उपदेश करते हैं–

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।।

(पातंजल योगसूत्र 02/30)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह– ये पाँच यम हैं।[2] अष्टांग योग साधना की प्रथम सीढ़ी के रूप में यम का उपदेश किया जाता है। अहिंसा–सत्य आदि पाँच यमों का महाव्रत के रूप में पालन करने से योग साधक में साधना की मजबूत पृष्ठभूमि का निर्माण होता है। योगसूत्रों में महर्षि पतंजलि उपदेश करते हैं कि देश–काल–समय से ऊपर उठते हुए योग साधक को पाँच यमों का पालन महाव्रत के रूप में करना चाहिए।

पाँच यमों के मूल में अहिंसा वैसे ही सबका मूल है, जिस प्रकार अविद्या सब क्लेशों का मूल होती है। सब प्रकार से, सब कालों में, समस्त प्राणियों के साथ शरीर, वाणी तथा मन से वैरभाव (द्वेष) छोड़कर प्रेमपूर्वक व्यवहार करना अहिंसा है। क्योंकि ''न हि वैरेण वैराणि प्रशाम्यति कदाचन'' अर्थात् वैर भावना रखने से वैर भावना कभी शान्त नहीं होती है। मनुष्य में उत्पन्न वैर भावना सर्वप्रथम मानसिक अशान्ति को जन्म देती है और फिर वह हिंसा वृत्ति को जन्म देती है जबकि योगाभ्यामी को हिंसा वृत्ति का परित्याग करना परमावश्यक है। अहिंसा का शाब्दिक विश्लेषण करने पर इसका अर्थ इस रूप में स्पष्ट होता है– अ+हिंसा = अहिंसा। 'अ' का अर्थ है नहीं और 'हिंसा' का अर्थ है किसी को कष्ट पहुँचाना। इस प्रकार वैरभाव से किया गया कर्म (कष्ट पहुंचाना) हिंसा है जबकि न्यायभाव एवं हितकामना से किया गया कर्म अहिंसा होता है। दूसरे शब्दों में अहिंसा का अर्थ मन, वचन व कर्म से किसी को दुःख नहीं देना होता है। जैन धर्म का तो आधार ही अहिंसा है। वहाँ पर स्पष्ट किया गया है–**'अहिंसा परमो धर्मः'** अहिंसा से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। इसलिए वहाँ जीवदया पर सबसे अधिक बल दिया गया है। जैन स्वामी कहते है कि भय और वैरनिवृत्ति साधक को, जीवन के प्रति मोह ममता रखने वाले सब प्राणियों को सर्वत्रा अपनी ही आत्मा के समान जानकर उनकी कभी भी हिंसा न करनी चाहिए। इसी प्रकार वैदिक शास्त्रों में कहा गया है–'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् जो अपनी आत्मा को प्रतिकूल व्यवहार लगता हो वह दूसरों के साथ भी न करें।

इस प्रकार अष्टांग योग साधना के प्रथम योगांग यम का प्रारम्भ अहिंसा से किया गया है। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योगसाधना में सर्वप्रथम अहिंसा को प्रतिष्ठित किया है। योगरूपी पवित्र साधना में सभी प्रकार की हिंसा के भावों को पूर्णरूप से वर्जित किया गया है। इस योगांग का पालन व्यक्तित्व विकास की मूल आधारशिला को दृढ़ बना सकता है। आधुनिक समय में मनुष्य अहिंसा के भावों को अपनाकर व्यक्त्वि के मानसिक पक्ष को उन्नत बना सकता है। अहिंसा पालन के उपरान्त दूसरे यम के रूप में सत्य का वर्णन किया गया है। सत्यनिष्ठ होने से मनुष्य के आचार–विचार पवित्र होते हैं। वेद में कहा है –**'सत्येनोत्तमिता भूमि'** अर्थात् यह पृथ्वी सत्य से ही टिकी है यदि असत्य का या झूठ का ही आधिपत्य हो जाए तो यह धरा (पृथ्वी) रसातल में समा जाएगी और समाज में त्राहि–त्राहि मच जाएगी। सत्य का व्रत पालना करना मनुष्य के लिए बहुत कठिन अवश्य है किन्तु यह मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक होता है। उपनिषदों में समस्त मनुष्यों को प्रेरणा दी गई कि **'सत्यं वद' 'धर्मं चर'** अर्थात् सत्य का आचरण करो और धर्म के मार्ग पर चलो। इस प्रकार अष्टांग योग साधना के पथ पर अग्रसर साधक जब अपने मन में संकल्प ग्रहण लेता है कि **'सत्यं वदिष्यामि, नानृतम्'** अर्थात् सत्य ही बोलूँगा, कभी भी झूठ नहीं बोलूँगा। इस व्रत का पालन करने पर साधक योग साधना की एक सीढ़ी ऊपर चढ़ जाता है। ठीक इसी प्रकार आधुनिक समय में जन–मानुस सत्य के व्रत को धारण करते हुए व्यक्तित्व विकास की सीढ़ी पर ऊपर उठ सकता है। दूसरों से कपट और छलरहित व्यवहार का नाम सत्य समझना चाहिए। पुण्यरूप सत्य वही है, जो किसी को हानि न पहुँचाए। जैन दर्शन साधना में भी महर्षि पतंजलि के इन्हीं यमों को अपनाया गया है वहाँ कहा गया है कि सदा अप्रमादी, सावधान

रहकर, असत्य को त्याग कर, हितकारी सत्य वचन ही बोलना चाहिए तथा आत्मार्थी साधक को दृष्ट (सत्य) परिमित, असंदिग्ध, परिपूर्ण स्पष्ट, अनुभूत, वाचलता रहित और किसी को भी उद्विग्न न करने वाली वाणी बोलनी चाहिए। सत्यरूपी यम का पालन करने से योग साधक की आत्मा पवित्र होती है। आधुनिक समय में मनुष्य के विभिन्न मानसिक और शारीरिक विकारों के मूल में सत्य का अपालन करना होता है। अतः आधुनिक समय में मनुष्य सत्यरुपी व्रत को धारण करता हुआ व्यक्तित्व को उन्नत बना सकता है।

अहिंसा और सत्य के उपरान्त तीसरे यम के रूप में अस्तेय का वर्णन आता है। अस्तेय का शब्दिक विश्लेषण करने पर इसका अर्थ स्पष्ट होता है। अ अर्थात् नहीं और स्तेय का अर्थ है– चोरी करना। इस प्रकार अस्तेय का अर्थ होता है–चोरी नहीं करना। यजुर्वेद मनुष्य को शिक्षा देता है कि किसी दूसरे के धन की ओर ललचाई दृष्टि से मत डालो।[3] जो ऐसा करता है वह स्तेय है चोर है। अन्याय पूर्वक (छल या बल से) किसी के धन, द्रव्य अथवा अधिकार आदि का हरण करना, अपना बना लेना (स्तेय) चोरी है। इसका कारण लोभ या राग होता है इसलिए यदि योग साधक किसी वस्तु के प्रति राग करता है तो वह स्तेय का ही रूप है और इसका पूर्णरूप से त्याग कर देना ही अस्तेय है। अतः साधक को चाहिए कि वह स्तेय की भावना का मन से त्याग कर दे और अस्तेय के मार्ग का अनुसरण करता हुआ अपनी साधना में लीन रहे।

महर्षि पतंजलि अस्तेय के उपरान्त ब्रह्मचर्य का उपदेश करते हैं। योग साधक के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करना अत्यन्त आवश्यक होता है अथवा योग साधना में ब्रह्मचर्य एक महत्वपूर्ण साधन होता है। ब्रह्मचर्य रूपी यम का व्रत का पालन करने से परिवार, समाज और राष्ट्र में सदाचार की पावन धारा प्रवाहित हो सकती है। वेदों और उपनिषदों आदि ग्रन्थों में इस ब्रह्मचर्य पर बड़े विस्तार से प्रकाश डाला गया है। अथर्ववेद में उपदेश किया गया है कि ब्रह्मचर्य रूपी व्रत से देवों ने मृत्यु को जीत लिया।[4] इसलिए योग साधक को चाहिए कि वह मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार के मैथुनों का, सब अवस्थाओं में सदा त्याग करके शरीर के धातु की रक्षा करना **ब्रह्मचर्य** कहलाता है। योग साधक को चाहिए कि वह शरीर, मन और वाणी पर गन्दे प्रभाव डालने वाले दृश्यों को न देखे, ऐसी बातों को न सुने, ऐसे साहित्य को न पढ़े और ना ही गलत विचारों को मन में स्थान दें।

वर्तमान काल में मनुष्य के सामने अनेक चुनौतियाँ और बाधाएँ बनी हुई हैं। आज के भौतिकवादी युग में जहाँ मनुष्य के मन में बहुविध विकारों को उत्पन्न करने वाले चलचित्र, विडियो, इन्टरनेट और अन्य विविध प्रकार के गन्दे अश्लील साधनों की चारों और भरमार हो गयी हैं। परन्तु मनुष्य को इन सभी से स्वयं को मुक्त एवं संयमित रखने का प्रयास करना चाहिए और सदैव ब्रह्मचर्यरूपी व्रत का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्यरूपी व्रत का पालन मनुष्य की शारीरिक क्षमता और बौद्धिक कुशलता को उन्नत बनाता हुआ व्यक्तित्व विकास में महत्वपूर्ण भूमिका वहन कर सकता है।

यम के पाँचवे भेद के रूप में अपरिग्रह का वर्णन आता है। अपरिग्रह का शाब्दिक विश्लेषण करने पर इसका अर्थ स्पष्ट होता है। अ का अर्थ 'नही' और परिग्रह का अर्थ संग्रह करना होता है। अर्थात् मनुष्य की संग्रह नहीं करने की प्रवृत्ति **'अपरिग्रह'** कहलाती है। मनुष्य द्वारा अपने स्वार्थ के लिए ममतापूर्वक धन, सम्पत्तियों, भोग सामग्री का संचय करना 'परिग्रह' है और इस प्रवृत्ति का त्याग करना ही अपरिग्रह है। योग साधक को हानिकारक एवं अनावश्यक वस्तुओं का, विचारों का भी संग्रह नहीं करना चाहिए। यद्यपि भोजन आदि आवश्यक है परन्तु असाधारण भोजन आदि के लिए प्रयास करना 'परिग्रह' में आ जाता है। साधारण वस्त्रों से भी शरीर ढका जा सकता है और शरीर की गर्मी–सर्दी आदि से रक्षा की जा सकती है किन्तु साधारण वस्त्रों के स्थान पर रेशमी और आकर्षक वस्त्रों का धारण करना और इनका संग्रह करना 'परिग्रह' है। यह सब राग, लोभ, मोह को जन्म देते हैं। इसलिए साधक को इनसे बचना चाहिए। योग साधक के लिए 'अपरिग्रह' का पालन करना इसलिए आवश्यक होता है क्योंकि यदि वह इन्ही चीजों के संचय में लगा रहा तो उसका जीवन इन्हीं कार्यों में लगा रहेगा, वह अपने योगसाधना रूप लक्ष्य से भटक जाएगा। अपरिग्रह के पालन से मनुष्य में सादा जीवन उच्च विचार की भावना का उदय होता है।

इसलिए योग साधक के लिए साधना की दृढ़ बनाने के लिए अपरिग्रह का पालन करना अनिवार्य होता है, इससे उसकी सांसारिक पदार्थों में ममत्व, राग या लोभ आदि कुटिल भावनाएं नष्ट होती चली जाती है और योगमार्ग की साधना का पथ निर्विघ्न होने लगता है।

योग शास्त्रों में यमों के पालन का फल दूसरे प्राणियों से वैर का त्याग, सभी कर्मों में फल देने योग्यता, सभी रत्नों की प्राप्ति, असीम बल एवं शक्ति–सामर्थ्य का प्राप्त होना एवं पूर्वजन्मों के ज्ञान के रूप में वर्णित किया गया है। आधुनिक समय में मनुष्य के द्वारा यमों को पालन करने से इन योग्यताओं और क्षमताओं का समावेश मनुष्य के व्यक्तित्व में होने लगता है और मनुष्य का व्यक्तित्व श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम् में परिष्कृत होने लगता है। वर्तमान समय में इन यमों का पालन करते हुए मनुष्य शारीरिक स्तर पर स्वस्थ, मानसिक स्तर पर स्थिर–एकाग्र और बौद्धिक स्तर पर कुशल बन सकता है।

(ii) नियम का स्वरूप एवं व्यक्तित्व विकास में महत्व

योगांग–नियम के निम्न पाँच भेद होते हैं। इन पाँच भेदों का उपदेश करते हुए महर्षि पतंजलि कहते हैं–

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।

(पातंजल योगसूत्र 02/32)

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान– ये पाँच नियम हैं।[5] शौच से अभिप्रायः शुद्धिकरण को अपनाने से होता है। योग में स्वच्छता अथवा शुद्धिकरण का बहुत विशेष महत्व होता है इसीलिए महर्षि पतंजलि नियम का प्रारम्भ शुद्धिकरण के रूप में शौच से करते हैं। शौच के भी दो प्रकार होते हैं– बाह्य शौच और आन्तरिक शौच। बाह्य शौच में स्नान कर्म, स्वच्छ वस्त्रों को धारण करना, अपने आस–पास के वातावरण को स्वच्छ एवं निर्मल बनाना आदि कार्यों का वर्णन आता है जबकि आन्तरिक शौच में मन को काम–क्रोध, लोभ–मोह, ईष्या–द्वेष आदि विकारों से मुक्त रखने का वर्णन आता है। शौच का फल स्वयं के शरीर से आसक्ति के भावों का त्याग के रूप में प्राप्त होता है। महर्षि पतंजलि के अनुसार शौच का फल चित्त की निर्मलता, एकाग्रता, इन्द्रियजय और आत्मदर्शन की योग्यता के रूप में प्राप्त होता है। शौच के यह फल मनुष्य के व्यक्तित्व को सीधा–सीधा प्रभावित करते हैं। चित्त की निर्मलता और एकाग्रता के प्रभाव से मनुष्य का व्यक्तित्व स्वभाविक रूप से निखरने लगता है। इन्द्रियों पर विजय और आत्म संयम की योग्यता मनुष्य के व्यक्तित्व को श्रेष्ठ से महानता की ओर अग्रसर करने लगती है।

दूसरे नियम के रूप में सन्तोष का वर्णन आता है। सन्तोष मनुष्य के लिए इस संसार के सबसे बड़े खजाने या कोष के समान होता है। इसीलिए जिसके पास सन्तोषरूपी धन है उसके पास इस संसार का सबकुछ विद्यमान है और इसके विपरित जिसके पास यह सन्तोषरूपी धन नहीं है वह सब कुछ होते हुए भी संसार का सबसे बड़ा दरिद्र बना रहता है। वास्तव में जीवन निर्वाह के लिए जो अपेक्षित साधन अपने पास उपलब्ध हैं, उसी में प्रसन्नता के भाव के साथ रहना, उन्हीं से अपना काम चलाना तथा सब प्रकार की तृष्णा को छोड़ देना ही सन्तोष कहलाता है। हिन्दीभाषा का प्रसिद्ध दोहा सन्तोष के स्वरुप को भलि–भांति स्पष्ट करता है –

गो–धन, गज–धन, वाजि–धन और रत्न–धन खान।
जब आवे सन्तोष–धन, सब धन धूलि समान।

अर्थात् जब मनुष्य को अपने जीवन में सन्तोषरुपी धन प्राप्त हो जाता है तब उसे संसार के अन्य किसी भी धन की आवश्यकता नहीं रहती है। सन्तोष से उत्तम दूसरा कोई सुख नहीं है– ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है।[6] इसी प्रकार योग साधक को अपने अन्दर सन्तोष की भावना रखनी चाहिए। उसे लोभ, लालच में फॅसकर अपनी इच्छाओं को बढ़ाकर जीवन में असन्तोष पैदा नहीं करना चाहिए। आज जितने भी मानसिक विकार मनुष्य के जीवन को कष्टकारी बना रहे हैं, उनके मूल में असन्तोष एक प्रमुख कारण हैं। इसलिए मनुष्य को अपना आचरण ऐसा बनाना चाहिए जिससे उसकी आवश्यकताएँ भी पूरी हो जाएँ और उसे किसी प्रकार का असन्तोष भी न हो। महर्षि

मनु उपदेश करते हैं कि सन्तोष का आधार सुख है, इसके विपरीत जो तृष्णा है वह तो दुःख का मूल है।[7] इसलिए योगाभ्यासी साधक को चाहिए कि वह सन्तोषरूपी नियम का पालन करते हुए मनसा, वाचा, कर्मणा अपने सभी कार्यों में सन्तुष्ट और प्रसन्नता की अनुभूति करता हुआ अपने मूल लक्ष्य की ओर अग्रसर बना रहे। यह सन्तुष्टि और प्रसन्नता की अनुभूतियां मनुष्य के व्यक्तित्व को बहुत सकारात्मकता प्रदान करते हैं।

नियम के तीसरे अंग के रूप में तप का वर्णन आता है। वास्तव में गहराई से अध्ययन करने पर स्वतः ही स्पष्ट होता है कि योगी पुरूष की योग साधना तप का ही पर्याय है और इसी तप करने वाले को ही तपस्वी की संज्ञा से सुशोभित किया जाता है। प्रायः लोक कथाओं में वर्णन आता है कि ऋषि या मुनि ने इतने वर्षों का घोर तप करने के उपरान्त सिद्धियों को प्राप्त किया। इसलिए मनुष्य जीवन में तप का बहुत महत्व है। तप की प्रशंसा करते हुए महर्षि मनु महाराज उपदेश करते हैं कि जिसका तरना दुस्तर (कठिन) है, जिसका मिलना दुष्कर है तथा जिसका ज्ञान लाभ करना दुष्कर है, वह तप के द्वारा प्राप्त हो सकती है। दुष्कर (कठिन) कार्यो के पूर्ण करने का मुख्य कारण तप ही है और बड़े–बड़े महापापी और दुष्कर्मों के करने वाले जितने पापी है वह सब तप ही के द्वारा शुद्ध हो सकते है। वस्तुतः तप का मानव जीवन में बहुत बड़ा महत्व है। बिना तप किए कोई बड़ा अथवा महान नही बन सकता है। योगसूत्रों के भाष्यकार महर्षि व्यास जी तप के स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं कि द्वन्द्वों का सहन करना ही तप है।[8] योग साधक को तप का पालन मनसा, वाचा, कर्मणा करना पड़ता है। शारीरिक, मानसिक द्वन्द्वों का सहना तप के ही अन्तर्गत है। जैसे सोना–चाँदी आदि धातुएँ अग्नि में तपकर शुद्ध हो जाते हैं और कुन्दन बन जाते हैं, ठीक इसी प्रकार योगी साधक पुरूष भी तप की साधना करने से पवित्र और दृढ़ बन जाते हैं। सामान्य जीवन में मनुष्य के द्वारा क्षुधा–तृष्णा, भूख–प्यास, शीत्–उष्ण, मान–अपमान आदि विषम परिस्थितियों को सहन करना भी तप का ही रूप होता है और इसी प्रकार जब योगी पुरूष अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु शरीर, मन–प्राण एवं इन्द्रियों को उत्तम अभ्यास से जो उपयुक्त द्वन्द्वों को सहन करता है, उसे ही **तप** की संज्ञा दी जाती है। तप की साधना के प्रभाव से योगी पुरूष का शरीर, मन, इन्द्रियां और प्राण आदि परिपुष्ट बनते हैं और योगमार्ग में आने वाली बाधाएँ दूर होती जाती है। योगसूत्रों के रचनाकार महर्षि पतंजलि तप का फल काया (शरीर) और इन्द्रियों की शुद्धि के रूप में वर्णित करते हैं। यह तप आधुनिक समय में मनुष्य के व्यक्तित्व को सुन्दर और आकर्षित बनाने में बहुत महत्वपूर्ण भूमिका वहन कर सकता है। आधुनिक समय में अधिकांश कार्य मशीनों के द्वारा होने के कारण शारीरिक श्रम कम हो गया और मोटापा आदि रोगों के साथ ही अनेक प्रकार के रोग मनुष्य के व्यक्त्वि को विकृत बना रहे हैं। यहाँ पर व्यक्तित्व विकास में तप का महत्व स्वतः ही सिद्ध हो जाता है।

नियम का चतुर्थ भेद **स्वाध्याय** है। महत्वपूर्ण स्मरणीय तथ्य है कि योग साधक की साधना के मार्ग में सबसे बाधक अज्ञान होता है और यह अज्ञान ही समस्त क्लेशों का भी मूल होता है जो साधक के मन में अनेक प्रकार के संशय और भ्रान्तियों को उत्पन्न करने का कार्य करता है। इस अज्ञान की निवृत्ति ज्ञान के द्वारा ही संभव होती है। 'ज्ञान' प्राप्ति के लिए ऋषि–मुनियों ने स्वाध्याय का विधान किया है। योगसूत्रों के भाष्यकार महर्षि व्यास जी स्वाध्याय के स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं – मोक्ष विषयक शास्त्रों का पढ़ना **स्वाध्याय** कहलाता है और ओंकारादि का जप भी।[9] इसका अर्थ यह है कि जिनसे योग साधक को अपने कर्त्तव्य कर्मो का बोध हो सके, ऐसे वेद शास्त्र, उपनिषद्, गीता तथा पुराण आदि आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी ग्रन्थों का तथा महापुरुषों के लेख आदि का पठन–पाठन करना '**स्वाध्याय**' कहलाता है।

स्वाध्याय का अर्थ स्वयं का अध्ययन करने से भी होता है। स्वयं का अध्ययन करते हुए आत्म चिन्तन करना तथा अपने जीवन के विषय में अध्ययन करना भी स्वाध्याय ही है। स्वाध्याय के महत्व पर प्रकाश डालते हुए उपनिषद् साहित्य में कहा गया है कि स्वाध्याय से प्रमाद मत करो। इस प्रकार योग साधक को चाहिए कि वह निरन्तर श्रेष्ठ ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करे और समय–समय पर आत्म मंथन करते हुए अपने जीवन के समस्त दुर्गुण–दुर्व्यसनों का त्याग करने का प्रयास करता रहे। इस प्रकार स्वाध्याय करने से मनुष्य की आध्यात्मिक पथ पर

चलने की श्रद्धा और रुचि बढ़ती चली जाती है वह ईश्वर के गुण–कर्म व स्वभाव को भली प्रकार जानकार उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करने में सक्षम बनता है। योगसूत्रों के रचनाकार महर्षि पतंजलि स्वाध्याय का फल इष्टदेव से मिलन के रूप में वर्णित करते हैं अर्थात् निरन्तर स्वाध्याय में लीन योग साधक ईश्वर साक्षात्कार पथ पर उन्मुख होता हुआ ईश्वर की शरण में चला जाता है। स्वाध्याय के फलस्वरुप व्यक्ति के ज्ञान एवं बुद्धि का विस्तार होता है और मनुष्य का मन सकारात्मक विचारों से परिपूर्ण बनता है। इसके प्रभाव से मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होने लगता है और मनुष्य बहुआयामी व्यक्तित्व का धनी बनता है।

अष्टांग योग साधना में नियम के पाँचवे भेद के रूप में ईश्वर प्रणिधान का वर्णन आता है। ईश्वर प्रणिधान का सबसे सरल अर्थ स्वयं को अपने सब कर्मों के साथ परमगुरु अर्थात् परमात्मा में अर्पण कर देना **ईश्वर प्रणिधान** होता है। ईश्वर का निरन्तर चिन्तन–मनन और निदिध्यासन ही **ईश्वर प्रणिधान** है। जिस साधक में ईश्वर के प्रति शरणागति का भाव, भक्ति विशेष का प्रादुर्भाव हो जाता है वह शरीर, बुद्धि, विद्या, बल व धन आदि समस्त साधनों को ईश्वर प्रदत्त मानकर उनका उपयोग मन–वाणी तथा कर्म से ईश्वर की प्राप्ति हेतु ही करता है। अपना सब कुछ ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है। योगसूत्रों के भाष्यकार महर्षि व्यास जी स्वाध्याय के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि उस परम गुरु परमात्मा में सब कर्मों का अर्पण करना, ईश्वर प्रणिधान है।[10] गीता में श्रीकृष्ण का अर्जुन से 'मामेकं शरणं व्रज' कहना भी ईश्वर प्रणिधान का ही रूप है। मोहग्रस्त अर्जुन ईश्वर के शरणागत होकर ही उसके विराटत्व को जानने में सक्षम हो सका। इस प्रकार ईश्वर प्रणिधान रूपी साधन से साधक का बाह्य विषयों से चित्त हटता है और उसके मन में भक्ति का उद्रेक जाग्रत होता है। योगसूत्रों के रचनाकार महर्षि पतंजलि ईश्वर प्रणिधान का फल समाधि अवस्था की प्राप्ति के रूप में करते हैं। उच्च कोटि के योग साधक ईश्वर प्रणिधान के माध्यम से समाधि की अवस्था को प्राप्त कर सकते हैं। इस सकारात्मक अनुभूति का प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व को श्रेष्ठता प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका वहन कर सकता है। आधुनिक समय में अधिकांश मनुष्यों का जीवन लोभ, मोह, ईष्या, राग–द्वेष के साथ–साथ मानसिक तनाव और चिन्ता आदि से ग्रस्त होकर अनेक रोगों से ग्रस्त होता जा रहा है इन रोगों का दुष्प्रभाव मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है। ऐसे सभी मनुष्यों के लिए ईश्वर प्रणिधान एक महाऔषधि का कार्य कर सकता है। ईश्वर प्रणिधान को अपनाते हुए मनुष्य सर्वत्र सर्वशक्तिमान के दिव्य स्वरूप की प्रतिक्षण अनुभूति करते हुए अपने व्यक्तित्व को श्रेष्ठ से महान बनाने की दिशा में अग्रसर हो सकता है।

सर्दभ सूची :

1. हरिकृष्णदास गोयन्दका, योग दर्शन, पृष्ठ संख्या 63
2. हरिकृष्णदास गोयन्दका, योग दर्शन, पृष्ठ संख्या 63
3. मा गृधः कस्यस्चिद्धनम्।। ईशोपनिषद् मन्त्र संख्या 01
4. ब्रह्मचर्पेण तपसा देवा मृत्युमपाध्नत।। अथर्ववेद ब्रह्मचर्य सूक्त।।
5. हरिकृष्णदास गोयन्दका, योग दर्शन, पृष्ठ संख्या 65
6. हरिकृष्णदास गोयन्दका, योग दर्शन, पृष्ठ संख्या 70
7. सन्तोष मूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः।। मनुस्मृति 4/12
8. तपो द्वन्द्व सहनम्।। 2/32 व्यास भाष्य।
9. स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा।। व्यासभाष्य 2/32
10. ईश्वर प्रणिधानं तस्मिन्परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।। व्यास भाष्य 2/3